अनुक्रम

1. समकालीन हिन्दी उपन्यासों में नारी की बदलती अस्मिता — 1
   डॉ. अमिता तिवारी
2. जीवन की जटिलताओं से टकराहट है 'राग विराग' — 13
   डॉ. नवीन नन्दवाना
3. आतंकवाद से जर्जर होती जिंदगी का अंकन : 'कथा सतीसर' — 24
   डॉ नयना डेलीवाला
4. 'सलाम आखिरी' : एक संवेदनशील 'कोलाज' — 31
   डॉ. संगम वर्मा
5. बदलती नारी चेतना और 'अन्तर्वंशी' — 39
   डॉ. संदीप श्रीराम पाईकराव
6. प्रवासी भारतीयों का सांस्कृतिक संकट : 'ए.बी.सी.डी.' — 45
   डॉ. निम्मी ए.ए.
7. जीवन के विभिन्न रंगों से साक्षात्कार : 'कोहरे में कैद रंग' — 52
   डॉ. शबाना हबीब
8. 'गिलिगडु' : वृद्धावस्था का यथार्थ — 59
   प्रो. वृषाली मांद्रेकर
9. 'तिरोहित' उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता — 64
   डॉ. हिरल शादीजा
10. देह से देह की मुक्ति का सफर : 'रेत' — 70
    डॉ. नीतू परिहार
11. आज के मनुष्य के अकेलेपन का बेजोड़ आख्यान : 'रेहन पर रग्घू' — 84
    डॉ. आदित्य कुमार गुप्त
12. काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में स्त्री चेतना के स्वर — 94
    ('रेहन पर रग्घू' एवं 'महुआ चरित' उपन्यासों के संदर्भ में)
    पारस तेली

13. 'प्रेम की भूतकथा' : प्रणय और मृत्यु की भूल-भुलैय्या 100
डॉ. लेखा. एम

14. 'दुक्खम : सुक्खम' का शास्त्रीय विवेचन 106
डॉ. जय राम त्रिपाठी

15. स्त्री होने का दंश झेलती 'यहीं कहीं था घर' उपन्यास की नारी 111
डॉ. नामदेव एम. गौडा

16. 'शिगाफ' : विस्थापन, स्त्री और कश्मीर 118
डॉ. कल्पना गवली

17. 'मिलजुल मन' : आत्म और पर का संयोग 126
डॉ. हेना

18. ग्रामीण यथार्थ की गहन पड़ताल 'गाँव भीतर गाँव' 135
डॉ. शशिभूषण मिश्र

19. अतीत के झरोखे से : 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' 142
डॉ. रवीन्द्र अमीन

20. अलका सरावगी के उपन्यासों में स्त्री अस्मिता 148
सरिता शर्मा

21. 21वीं सदी में राजस्थान का औपन्यासिक साहित्य : मानवीय संवेदनाएँ और संदर्भ 154
प्रकाश नेभनानी

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में नारी की बदलती अस्मिता

डॉ. अमिता तिवारी*

२५१

वर्तमान युग संक्रमण का युग है आज हमारा समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। आज हम अपने मूल्यों, संस्कारों, परम्पराओं को तो नकारते जा रहे हैं और जिन मूल्यों को अपनाना चाह रहे हैं वे हमारे समाज द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। वे मूल्य हमारे समाज में प्रतिष्ठित नहीं हो पा रहे हैं।

समकालीन का अर्थ हिन्दी साहित्य में एक स्पष्ट विभाजक रेखा से मानना चाहिए और यह विभाजक रेखा राजनीतिक बदलाव, आर्थिक, वैज्ञानिक और इन सबके परिणामस्वरूप सामाजिक बदलाव से संबंधित है। अस्सी-नब्बे का दशक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यों के संक्रमण का दशक रहा है। इस दशक में आए परिवर्तन ने हमारी मानवीय संवेदना को झकझोर कर रख दिया है। इस समय कविता की तरह उपन्यास साहित्य में भी नया मोड़ आया और ऐसे उपन्यास लिखे जाने लगे जो समाज की इसी संक्रमणशीलता की अभिव्यक्ति देते हैं। वास्तव में समकालीन हिंदी उपन्यास हमारे जीवन और परिवेश के अधिक निकट हैं। इन उपन्यासों में आज के जीवन से जुड़े विविध विषयों जैसे- संत्रास, घुटन, पीड़ा, मोहभंग, गरीबी, बेकारी, शोषण, भ्रष्टाचार, बौद्धिक नपुंसकता आदि की प्रवृत्ति प्रमुखता से दिखाई देती है।

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जीसस एंड मेरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

की सक्रिय कार्यकर्ता बनने का निर्णय लेती है। इसी तरह 'एक जमीन अपनी' की अंकिता भी अपनी जिंदगी अपने मूल्यों के आधार पर जीती है। बम्बई जैसे शहर में रहते उसका कोई शारीरिक और मानसिक शोषण नहीं कर पाता। वह नौकरी भी सम्मान के साथ करती है। वह पैसे के लिए अपना जमीर नहीं बेचती जब उसे पता लगता है कि भोजराज को उसकी नीयत पर शक है तो वह नौकरी छोड़ने में एक पल भी नहीं लगाती। यह वास्तविक नारी अस्मिता जहाँ न लोभ-लालच है, न अंग प्रदर्शन, न शराब में अपना जीवन डुबाना। ऐसा आचरण आज की नारियों को अपनाना चाहिए। उसे प्रभा खेतान की तरह पुरुष के हाँथां की कठपुतली नहीं बनना चाहिए और न ही पद प्रतिष्ठा और सफलता के लोभ में ('मुझे चाँद चाहिए' की वर्षा वशिष्ठ की तरह) अपनी देह दूसरों को परोस देनी चाहिए।

संदर्भ सूची

1. डॉ. धर्मवीर : सं. *अज्ञात महिला लेखिका : सामन्ती उपदेश* , शेष साहित्य प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, 1988, पृष्ठ 74
2. पुष्पपाल सिंह : *भूमण्डलीकरण और हिंदी उपन्यास*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 209
3. चित्रा मुद्गल : *आवाँ*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 105
4. वही, पृष्ठ 110
5. कमल कुमार : *पासवर्ड*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ 25-26
6. निर्मला भुराड़िया : *गुलाम मंडी*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ 71
7. प्रभा खेतान : *अन्या से अनन्या*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 125
8. चित्रा मुद्गल : *एक जमीन अपनी*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 4
9. मैत्रेयी पुष्पा : *इदन्नमम्*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृष्ठ 83
10. सुशीला टाकभौरे : *वह लड़की*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ 160
11. प्रभा खेतान : *छिन्नमस्ता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 12
12. मैत्रेयी पुष्पा : *झूलानट*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 328
13. चित्रा मुद्गल : *आवाँ*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 25
14. निर्मला भुराड़िया : *गुलाम मंडी*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ 239
15. वही, पृष्ठ 238
16. प्रभा खेतान : *छिन्नमस्ता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ 170
17. वही, पृष्ठ 126
18. नासिरा शर्मा : *ठीकरे की मँगनी*, किताब घर, नई दिल्ली, पृष्ठ 217

□□□

जीवन की जटिलताओं से टकराहट है 'राग विराग'

डॉ. नवीन नन्दवाना*

157

हिंदी के गद्य रचनाकारों में श्रीलाल शुक्ल अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्होंने अपने लेखन के मिजाज को परम्परागत रचनाकारों से कुछ अलग प्रकार का रखा। इसी कारण हिंदी जगत में उनका विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया में परम्परागत रूपों के अतिरिक्त कुछ नया करने का प्रयास किया है। तभी उनकी प्रत्येक रचना में अपना समय बोलता है। उनका लेखन हमें ऐसा लगता है जैसे उनकी प्रत्येक रचना में हमारा भी समय समाहित है। भारतीय लोकतंत्र के विविध स्वरूपों के यथार्थ को इस रचनाकार ने बड़ी प्रखरता और यथार्थ के साथ उद्घाटित किया है। उनकी कलम ने विषय के साथ संपूर्ण न्याय करने का प्रयास किया है। वे एक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने कभी भी विषय की माँग से बचकर निकलने का प्रयास नहीं किया है। "श्रीलाल शुक्ल ऐसे लेखक हैं जिन्होंने हिंदी लेखन के मिजाज को तो बदला ही, साथ में अपनी रचनाओं में भी पिछले को छोड़कर नया अपनाने की प्रक्रिया से गुजरते रहे। उनके उपन्यासों को ही लिया जाए तो कहा जा सकता है कि- उनके हर नए उपन्यास ने पिछले उपन्यासों तक के पाठकों को अपनी नई छवियों-भंगिमाओं के कारण चौंकाया है।"[1]

हिंदी जगत के इस ख्यातनाम रचनाकार का जन्म 31 दिसम्बर, 1925 को उत्तरप्रदेश के लखनऊ जिले के अतरौली नामक ग्राम में एक मध्यम श्रेणी के कृषक

* सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान) 313001

परिवार में हुआ। इनके दादा गदाधर शुक्ल पेशे से अध्यापक थे और पिता ब्रजकिशोर शुक्ल एक साधारण किसान। श्रीलाल शुक्ल की प्रारंभिक शिक्षा मोहनलाल गंज नामक ग्राम में हुई। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.ए. और लखनऊ विश्वविद्यालय से एम.ए. और एल.एल.बी. कोर्स प्रारंभ किया किंतु समय की मार के कारण आर्थिक तंगी के चलते उनको ये दोनों कोर्स बीच में ही छोड़ने पड़े। 1949 में इन्होंने राज्य सेवा आयोग से डिप्टी कलेक्टरी प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त की। 1973 में आपकी भारतीय प्रशासनिक सेवा में पदोन्नति हुई।

श्रीलाल शुक्ल का रचना संसार वैभवपूर्ण है। उनके द्वारा रचित उपन्यास 'सूनी घाटी का सूरज' (1957), 'अज्ञातवास' (1962), 'रागदरबारी' (1968), 'आदमी का जहर' (1972), 'सीमाएँ टूटती हैं' (1972), 'मकान' (1976), 'पहला पड़ाव' (1981), 'विश्रामपुर का संत' (1998), 'बब्बर सिंह और उसके साथी' (1999) और 'राग विराग' (2001) हैं। शुक्ल जी व्यंग्य लेखन के लिए भी ख्यात हैं। उन्होंने 'अंगद का पाँव' (1958), 'यहाँ से वहाँ' (1970), 'उमराव नगर में कुछ दिन' (1986), 'कुछ जमीन में कुछ हवा में' (1990), 'आओ बैठें कुछ देर' (1995), 'जहालत के पचास साल' (2003) 'और खबरों की जुगाली' (2005) नामक व्यंग्य संग्रहों की रचना की। 'सुरक्षा तथा अन्य कहानियाँ' (1991) तथा 'इस उम्र में' (2005) उनके कहानी संग्रह हैं। उन्होंने कुछ आलोचनात्मक ग्रंथ भी रचे। उनमें 'अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग' (1999) और 'कुछ साहित्य चर्चा भी' (1962) हैं।

हिंदी रचना संसार को अपने अप्रतिम योगदान के लिए शुक्ल जी को कई पुरस्कार और सम्मान भी मिले। उनमें 'रागदरबारी' के लिए साहित्य अकादमी सम्मान (1970), 'मकान' उपन्यास के लिए मध्यप्रदेश सरकार का 'हिंदी साहित्य पुरस्कार' (19778), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 'लोहिया सम्मान' (1994), मध्यप्रदेश सरकार का 'शरद जोशी सम्मान' (1996) और 'मैथिलीशरण गुप्त सम्मान' (1999), के.के. बिरला फाउंडेशन का 'व्यास सम्मान' (1999), भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण पुरस्कार' (2008) और हिंदी जगत का सर्वश्रेष्ठ 45वाँ 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' (2009) प्रमुख हैं। 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' उन्हें 18 अक्टूबर, 2011 को उनके जीवन के अंतिम दिनों में बीमारी की अवस्था में लखनऊ के सहारा अस्पताल में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल बी.एल. जोशी द्वारा प्रदान किया गया। साहित्य जगत के इस महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर ने 28 अक्टूबर, 2011 के दिन इस दुनिया को अलविदा कह दिया।

अपने उपन्यास 'रागदरबारी' के लेखन के लिए शुक्ल जी ने हिंदी जगत में खूब ख्याति अर्जित की। किंतु इस आलेख लेखन के लिए मैंने उनके उपन्यास 'राग विराग' को आधार बनाया कारण कि जब नई सदी के उपन्यासों की चर्चा की जाए तो हिंदी जगत का ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजा गया रचनाकार भी उनमें अवश्य होना चाहिए, भले ही उनके इस उपन्यास ने उतनी ख्याति अर्जित न की हो जितनी की अन्य उपन्यासों ने अर्जित की। ''श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'राग-विराग' की एक खासियत है कि यह कहानी को संक्षेप में कह जाता है। पर 120 से कुछ कम ही पृष्ठों में सिमटी पुस्तक तीन दशकों से ज्यादा की कहानी कह जाती है और बदलते समाज, बदलते मूल्यों और न बदल सकने वाली सामाजिक बुराइयों की तरफ इशारे कर जाती है, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मेडिकल रिसर्च के क्षेत्र में चल रहे भ्रष्टाचार की ओर उँगली उठा जाती है, और साथ ही साथ प्रेम को खंगाल कर संबंधों में आ रही और आ सकने वाली विशेष परिस्थितियों का विवरण भी दे जाती है। 'राग-विराग' पाठक के अंदर एक सन्नाटा-सा उत्पन्न करती हुई चलती है। पुस्तक एक तरह से लोगों की अकेले होते जाने की प्रवृत्ति की ओर इशारा करती है। लोगों को दूसरों के साथ संबंध तो चाहिए पर ऐसा बिल्कुल उनकी शर्तों पर होना चाहिए। प्रेम संबंध जैसे संबंधों में भी दिल से ज्यादा दिमाग सक्रिय हो गया है। प्रेम की तरफदारी करने और आगे सब ठीक होगा जैसी बात लोगों को आश्वास्त नहीं करती। उन्हें पक्की गारंटी चाहिए कि आगे इस प्रेम संबंध के कारण अच्छा ही होगा। जीवन में परिवर्तन तो चाहिए पर परिवर्तन इतना बड़ा न हो कि उथल पुथल मचा जाए।''[2]

'राग विराग' श्रीलाल शुक्ल की अंतिम औपन्यासिक कृति है। इस उपन्यास के माध्यम से रचनाकार ने जीवन के कटु यथार्थ के उद्घाटन के साथ-साथ वर्गभेद और बाजारवाद जैसे मुद्दों को भी अपने लेखन का विषय बनाया है। यह उपन्यास उस कथा को केंद्र में रखकर रचा गया है जिसमें एक प्रेमी को कमजोर आर्थिक स्तर के कारण उसकी प्रेमिका उसे कमतर आँकती है और इस कारण वह प्रेमी विदेश जाकर अर्थोपार्जन कर अपनी आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाता है। यहाँ हम जातिभेद के साथ-साथ वर्गभेद भी देख सकते हैं। उपन्यास के दो चिकित्सक पात्र शंकर व सुकन्या एक-दूसरे को चाहते हैं किंतु सुकन्या को उसका कमजोर आर्थिक स्तर स्वीकार नहीं है। हालाँकि वह जातिभेद को ज्यादा स्वीकार नहीं करती है। इलाज के अभाव में पिता की असमय मृत्यु शंकर को डॉक्टर बनने के लिए प्रेरित करती है और वह अपने लक्ष्य में सफल भी होता है किंतु वह सुकन्या का साथ अर्जित करने में अपने को असफल पाता है कारण कि सुकन्या एक ऐसे पुरुष से विवाह नहीं करना

चाहती जिसका कि आर्थिक स्तर कमजोर हो, साथ ही पारिवारिक पृष्ठभूमि भी किसी भी स्तर से ठीक न हो। शंकर का चयन कार्डियोलोजी के अध्ययन के लिए हो जाता है किंतु उसका मानना है कि वह जीवन भर रईसों के दिल की धड़कन नहीं सुनना चाहता अतः वह इसे ठुकरा कर विकासशील देशों के गरीब परिवारों में संक्रमणजन्य बीमारियों से जुड़ी शोध व अध्ययन के लिए विदेश चला जाता है। शुक्ल जी ने इस उपन्यास के माध्यम से भारतीय ग्रामीण जीवन, वर्गभेद, जातिभेद, समाज व्यवस्था और चिकित्सकीय जीवन आदि को एक साथ अभिव्यक्ति दी है।

पढ़े-लिखे परिवार भी आज तक जाति व्यवस्था और ऊँच-नीच के भावों से ज्यादा मुक्त नहीं हो पाए हैं। उपन्यास में सुकन्या के पिता के कथन से हम नई सदी के भारत के मनोभावों को समझ सकते हैं-

> ''पापा- उसकी जाति क्या है ? शेड्युल्ड कास्ट तो नहीं ? ज्यादातर इन्हीं जातियों के लड़के बूढ़े होकर एम.बी.बी.एस. में दाखिल होते हैं।
>
> सुकन्या- जाति ? आप जात-पाँत मानते हैं ?
>
> पापा- मेरे न मानने से क्या जाति प्रथा खत्म हो जाएगी ?
>
> सुकन्या- आप न मानें और आपके साथ और सारे लोग भी न मानें तो जरूर हो जाएगी। .....
>
> पापा- थैंक्यू की कोई बात नहीं है। निजी तौर पर मेरे लिए भी जाति की कोई अहमियत नहीं। फिर भी लोगों के लिए रोजमर्रा की जिंदगी में उसकी अहमियत है। मान लो, तुम एक चिड़िया पालने जा रही हो, तो यह तो पता होना चाहिए कि वह बुलबुल है या गोरैया, चमगादड़ है या उल्लू। पता होना चाहिए न ...।''[3]

इस प्रकार हम आजादी के लगभग 60 साल बाद के भारत की जाति व्यवस्था आधारित सोच से परिचित होते हैं। आज का एक पढ़ा-लिखा परिवार भले ही जाति आधारित भेद को न मानें किंतु वह समाज के भय के कारण इस सोच से मुक्त नहीं हो पाया है। ''भारतीयों की विकासशील मानसिकता में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व जातिवाद और वर्गभेद है जिसके चलते व्यक्ति योग्य युवा को उसका सही सम्मान नहीं दे पाता है। स्वतंत्र समाज में रहने वाले व्यक्ति की सोच अलग होनी चाहिए थी। सदी के साथ चलने के लिए सामाजिक व्यवस्था, व्यक्ति की प्रतिभा और योग्यता को केंद्र में रखकर करनी चाहिए थी लेकिन सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के जन्म को

आधार बनाया गया और उसके कर्मों को उपेक्षित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज जातिवाद व उसकी बुराइयों से घिरता चला गया।''[4]

'श्रीलाल शुक्ल संचयिता' की भूमिका में सुशील सिद्धार्थ लिखते हैं कि- '' 'राग विराग' दलित विमर्श, प्रेमकथा और बाजारवाद की समेकित संश्लिष्ट रचना है। श्रीलाल शुक्ल अपने प्रिय व परिचित शिल्प को तजकर नाट्य प्रविधि के सहारे इस नीतिदीर्घ उपन्यास को विकसित करते हैं।''[5]

आजादी के वर्षों बाद भी आज तक प्रकाश और चेतना की किरण भारत के प्रत्येक ग्राम और भारतीय तक नहीं पहुँची है। आज भी भारत में कई ग्राम ऐसे देखे जा सकते हैं जिनके निवासियों का चिकित्सा पर कम और तंत्र-मंत्र, झाड़-फूँक, टोने-टोटकों पर ज्यादा विश्वास है। उपन्यास के पात्र शंकर के माध्यम से शुक्ल जी ने इस यथार्थ को भी उद्घाटित करवाने का प्रयास किया है। शंकर जब कार्डियोलोजी का अध्ययन छोड़ अन्य विषय का अध्ययन चुनता है तब सुकन्या के साथ उसका लंबा विचार-विमर्श होता है। शंकर का मानना है कि कार्डियोलॉजी के क्षेत्र में लाखों का खेल है किंतु यह बीमारी ज्यादातर धनाढ्य वर्ग से जुड़ी है। वह उस वर्ग का कल्याण चाहता है जो गाँवों में बसा है, चिकित्सा की सुविधाओं से वंचित है। वह एक पुरानी घटना के स्मरण के माध्यम से बताना चाहता है कि आज भी गाँवों में पेट दर्द का इलाज (जिसे वहाँ 'पेट में शूल उठना' कहते हैं) कभी पेट की सिंकाई को माना जाता है तो कभी पेट की मालिश को, तो कभी गरम पानी में नमक डालकर पिलाने को और इतने पर भी आराम न होने पर जड़ी-बूटी की ओर बढ़ते हैं। उसे स्मरण है कि किस प्रकार पड़ोस की किसी बहू के पेट दर्द में उसने 75 पैसे की बेरालगन टेबलेट दी थी और उसके दो टेबलेट के साथ ही आराम हो गया था। उसने जब ग्रामीणों को हेल्थ सेंटर जाने को कहा तो ग्रामीणों द्वारा बताया गया यथार्थ चौंकाने वाला है-

''मैंने सलाह दी कि प्राइमरी हेल्थ सेंटर पर जाकर इसे डॉक्टर को भी दिखा दो। वे बोले- कौन है डॉक्टर ? वह तो शहर में रहता है, हर महिने में एक बार तनख्वाह बटोरने आता है। कस्बे में एक दूसरा डॉक्टर है। लंबी फीस लेता है, खूब महँगी दवाइयाँ लिखता है और उन्हें अपनी ही दुकान से खरीदने के लिए कहता है। यह सब हमारे बूते का नहीं। यह टिकिया कितने की है भैया ?

तुम जानती होगी, तब वह टिकिया पचहत्तर पैसे की थी ! इस औरत को ऐसी टिकिया देने वाला कोई न था। आज भी नहीं है। आगे भी कोई आएगा, इसकी उम्मीद नहीं। हमारे इंस्टीट्यूट में एक मरीज की हार्ट सर्जरी पर जितना खर्च होता है, वह रुपिया- सिर्फ एक ऑपरेशन का रुपिया- काश ! मुझे मिल जाए। उसके सहारे मैं अपने गाँव ही के लिए नहीं, दो-चार गाँवों के लिए कम-से-कम डेढ़ साल की साधारण चिकित्सा का इंतजाम कर दूँगा, कहां न सवाल प्राथमिकता का है।'[16]

भारतीय चिकित्सा तंत्र कितना खोखला हो गया है, उसे किस तरह घुन लग गया है, ये सब बातें भी हम उपन्यास के सहारे समझ सकते हैं। हम बाजार में देख सकते हैं कि एक ही दवाई के लिए अलग-अलग कंपनियाँ अलग-अलग राशि वसूल रही है। जेनरिक दवाइयों से जरूर कुछ राहत हुई है और विविध सरकारी योजनाओं से भी कुछ बदलाव आया हो फिर भी दवाइयों का यह खेल अभी थमा नहीं है। यह उपन्यास प्रेमगाथा होने के साथ-साथ आम आदमी के यथार्थ का भी उद्घाटन करता है। आम आदमी के हक में आवाज उठाते हुए श्रीलाल शुक्ल कहते हैं कि- ''आम आदमी की तलाश शायद तब तक कामयाब न होगी जब तक आप खुद खास आदमी बनकर ऊँची मीनार पर बैठे हों, आम आदमी को खोजने के लिए आपको खुद आम आदमी बनकर ठोस जमीन पर आना होगा।'[17]

ग्रामीण भारतीय जीवन की बदहाल दशा का वर्णन भी इस उपन्यास में हुआ है। किस कदर गरीबी ने ग्रामीण समाज को घेर रखा और वह तंगहाल जीवन जीने को मजबूर है, उसे हम उपन्यास के माध्यम से समझ सकते हैं। शंकर को स्मरण है कि उसके घर की पाँच-छः पीढ़ियाँ मिलकर भी उसके घर की चौखट को दरवाजा नसीब नहीं करवा पाई थी। शंकर उस गरीबी के विषय में कहता है कि- ''पर हम गाँव में थे और बहुत गरीब थे। कितने गरीब- तुम सोच नहीं पाओगी। आज मैं भी हू-ब-हू वैसा सोच नहीं पाऊँगा क्योंकि अब मैं वैसा गरीब नहीं हूँ, अस्पताल में चीफ रेजिडेंट हूँ।'[18] रचनाकार शुक्ल जी ने गरीबी व अमीरी के जीवन में प्रयुक्त भाषा-शैली और संबोधन में भी अंतर को बड़ी सूक्ष्मता से जाना है। उनके अनुसार दोनों वर्गों के जीवन में 'प' और 'ब' का अंतर है। गरीब तबका अपने पिता के लिए बापू शब्द प्रयुक्त करता है जबकि अमीर वर्ग में पापा या पप्पा जैसे संबोधनों का प्रयोग किया जाता है।

किसी गरीब और अशिक्षित के साथ किसी चिकित्सक का व्यवहार नरमदिल और संवेदनापूर्ण होना चाहिए किंतु यथार्थ उससे कुछ अलग तरह का होता है। शंकर

ने अपने पिता को जब मृत्यु के निकट देखा तो वह डॉक्टर के लिए दौड़ पड़ा। दो मील की दूरी तय करने के बाद भी वह अपने पिता के इलाज के लिए डॉक्टर नसीब नहीं कर पाया। उसके साथ डॉक्टर का जो व्यवहार था, चिंतनीय है और यह सब हमारे समाज से शून्य होती जा रही संवेदना को भी दर्शाता है-

''मेरी बात पूरी नहीं हो पाई। उसने कहा, 'मरीज कहाँ है ?' 'घर पर' मैंने जवाब दिया। उसने कहा- 'हरामी के पिल्ले !' तब झूठ क्यों बोला ? उसने मुझे ठोकर नहीं मारी पर अपना पैर इस तरह से खींचा कि वह मेरे मत्थे से टकराया....।

मैं हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, बोला, 'सर, मुझे गाली न दें। मेरा बाप मर रहा है। मेरे साथ चलें। उम्र भर आपकी गुलामी करूँगा।'

तब डॉक्टर बोला, 'मेरी फीस बत्तीस रुपये है- दूरी को देखते हुए चौंसठ।'

मैं बदहवास था; कहा, 'सर आप चलें, मैं चौंसठ रुपये दे दूँगा।'

'यहाँ लाया है ?'

मैंने कहा- 'नहीं सर, घर पर दे दूँगा।'

सुनते ही वह किवाड़ बंद करने लगा; बोला, 'नहीं मैं नहीं चल सकता।'[19]

इन सब स्थितियों से हम गरीब बदहाल ग्रामीण परिवार की मजबूरी और चिकित्सकीय पेशे से दूर जा रही संवेदनाओं को भलीभाँति समझ सकते हैं। और इन्हीं सब कारणों से शंकरलाल के पिता को अपने प्राण त्यागने पड़े और शंकरलाल ने ठान ली कि वह चिकित्सक बनेगा और जरूरतमंदों की सेवा को हर समय तैयार रहेगा जिससे कि किसी और के पिता को बिना चिकित्सा के प्राण न त्यागने पड़े।

सरकारी तंत्र की कार्यप्रणाली भी इस उपन्यास से छिपी नहीं रही। उपन्यास के पात्र शंकर से बात करते हुए कर्नल साफ शब्दों में कहते हैं कि- ''1962 में। पहले यहाँ मैं स्टेट सर्विस में था। वहाँ बड़ी खिच-खिच थी, काम करने का कोई मौका नहीं ! कार्डियोलॉजिस्ट को गाँवों में मलेरिया उन्मूलन के लिए भेजते थे और अनीस्थिशिया के विशेषज्ञ से आर्थोपीडिक्स का काम लेना चाहते थे। बिल्कुल अंधेर नगरी।''[10]

सब कुछ जान लेने के बाद भी सुकन्या उसके गुणों और प्रतिभा का सम्मान तो करती है किंतु फिर भी वह शंकर के साथ विवाह बंधन में बँधने को तैयार नहीं है। उसका मानना है कि आज भी शंकर शहरी संभ्रांत लोगों के साथ-साथ गाँव, परिवार

और माँ से जुड़ा है, एक यह भी उसके इस वर्तमान का हिस्सा है, जिसे वह अपनाना नहीं चाहती। वह उसकी उस गरीबी के माहौल से जुड़ना नहीं चाहती है तभी वह साफ कह देती है कि- ''पर मैं सत्रह साल की प्रेम-दीवानी लड़की नहीं। संसार और समाज को कुछ हद तक समझ चुकी हूँ। मैं यह जानती हूँ कि भारतीय समाज में विवाह दो व्यक्तियों के बीच नहीं होता, उन दोनों से जुड़े पूरे माहौल के बीच होता है जिसमें दोनों के परिवार, उनके परिवेश, उनकी कल्चर और विश्वास सभी कुछ शामिल है।..... मैं जानती हूँ कि मैं उस परिवेश से समझौता नहीं कर पाऊँगी। .... मैं शंकर को खोना भी नहीं चाहती और पाना भी नहीं चाहती।''[1] जीवन की ये स्थितियाँ बड़ी दारूण है कि आज भी हम व्यक्ति को स्वीकार कर लेने को तैयार है किंतु उसकी पृष्ठभूमि और परिवार को नहीं।

प्रेम को अर्थतंत्र कितना प्रभावित करता है इस बात का आकलन भी इस उपन्यास के माध्यम से संभव है। शंकर अपनी मित्र सुकन्या को समझाता है कि गाँव के आदमी में आज भी बेसिक कल्चर है और वह उससे जुड़ा हुआ है किंतु सुकन्या का मानना है कि शंकर ने निचले तबके को सम्मान देने के लिए इस शब्द का इजाद किया है। समाज के दो वर्गों की खाई को भी उपन्यासकार ने दर्शाया है। सुकन्या कहती है कि- ''मौसी, मैं उसका बड़ा सम्मान करती, और एक हद तक प्यार भी। ... फिर भी मैं अपने को कभी इस भूमिका में नहीं देख पाती हूँ कि मैं उसकी बेसिक कल्चर में शरीक हो जाऊँ। जिस तरह मैं पाली-पोसी गई हूँ, आप लोगों के बीच बड़ी हुई हूँ, वहाँ सिर्फ मुझे एक कल्चर मिली है जो गाँव की अशिक्षा, जहालत, बीमारी, गंदगी, अंधविश्वास दकियानूसी सोच- इन सबसे बहुत दूर है। जो कल्चर मुझे दी है वह अच्छी या बुरी, मैं नहीं जानती; पर इतना जानती हूँ कि उसमें और शंकर की बेसिक कल्चर के बीच एक बहुत गहरी खाई है जो .....।''[2] वास्तव में दो वर्गों के बीच की खाई पाटने के स्थान पर और भी गहरी होती जा रही है। सुख-सुविधाओं और बाजारीकरण की भेंट चढ़तीं जा रही हमारी संवेदनाएँ इस कदर निष्प्रभावी होती जा रही हैं कि आज एक पढ़ा-लिखा सक्षम इंसान भी गाँव व उसके कल्याण के लिए पूरे दिल से आगे नहीं आ पा रहा है। शायद वे कौन लोग होंगे जो इस दिशा में आगे बढ़ेंगे और इस खाई को पाटने का प्रयास करेंगे।

शंकर ने इस जहालत के दिन झेले हैं इसलिए वह इस वर्ग के कल्याण के लिए कृत संकल्प दिखाई पड़ता है। वह स्पष्ट कहता है कि- ''कार्डियालॉजी में काम करते हुए मुझे काफी पैसे बटोरने का मौका मिलेगा, पर मेरी सेवाएँ ज्यादातर उसी समुदाय

को मिलेंगी जिनके पास न साधनों की कमी है, न चिकित्सा सुविधा की। तभी मुझे यह बात बराबर कुरेदती रही कि क्यों न मैं अपनी विद्या-बुद्धि का उपयोग उन लोगों के लिए करूँ जो व्यापक रूप से अनेक बीमारियों के शिकार होते रहते हैं और जिनके बचाव के लिए हमारे पास न तो उपयुक्त निरोधक जानकारी है और न ही साधन। तभी मैंने सोचा और खूब सोच-विचारकर तय किया कि मुझे क्लिनिकल काम छोड़कर अपने देश जैसे अर्द्धविकसित और ट्रॉपिकल क्षेत्रों के रोगों पर काम करना चाहिए, जिनके कारण हर साल न जाने कितने लोग- खासतौर से बच्चे संक्रमण का शिकार होते हैं।''[3] उपन्यासकार ने शंकर लाल के बड़े आदमी होने के हवाले से पाठकों को मानवीय मूल्यों को स्वीकारने के साथ-साथ जड़ों से जुड़े रहने का भी संदेश देता है। ''...पर आदमी चाहे जितना बड़ा हो जाए, उसे अपने गाँव और घर को नहीं भूलना चाहिए। इसी से गाँव की हैसियत बनती है।''[4] बाजारवाद के हवाले से लेखक ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि कई बार हमारी सरकारें और बड़े-बड़े संगठन उस दिशा में ज्यादा काम व धन खर्च करने लगते हैं जिसकी ज्यादा जरूरत नहीं और महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए बजट की कमी हो जाती है। कृष्ण बिहारी 'राग विराग' उपन्यास के विषय में लिखते हैं कि- ''राग विराग ने पुराने सभी उन नियमों और परम्पराओं को तोड़कर यह कहने की कोशिश की है कि अपनी बात को कहने के लिए अधिकतम शब्दों की जरूरत कतई नहीं है। जो अपनी बात कम से कम शब्दों में नहीं कह पाता उसे मुँह खोलने की भी जरूरत नहीं। आज की दुनिया इतनी व्यस्त है कि उसे फालतू कुछ भी पढ़ने का समय उसी तरह नहीं जिस तरह देश के मुख्य पदों पर बैठे लोग केवल अपने सहायकों द्वारा लगाए और चिह्नित किए गए समाचार ही पढ़ते हैं। प्रेम अब फालतू हो गया है। यह मात्र टाइम पास है। इस पर रोने वाला न केवल मूर्ख है बल्कि वह अहमक है जो अपनी बीमारी भी नहीं जानता। नए समय ने यही कुछ नए समाज को दिया है। अंत में उपन्यास एक प्रश्न छोड़ जाता है- घटिया होती हुई इस दुनिया में क्या अब ऐसा कुछ सचमुच नहीं बचा जो प्यार जैसी भावना के पक्ष में खड़ा हो सके ? दो में से कोई एक तो प्यार करता होगा ?''[5]

जाति और वर्ग की चर्चा करते हुए रचनाकार ने बताया कि- ''वर्ग-भेद को लेकर किसी आदमी के बारे में फैसला देना वैसे भी वाहियात बात है; पर मुझे लगता है कि उससे भी ज्यादा वाहियात बात है किसी आदमी पर शुरु से ही उसके वर्ग का ठप्पा लगा देना। उसे स्थायी बना देना। वर्ग वाला ठप्पा कभी भी धुल सकता है। .... हाँ जाति की बात कुछ और है। ..... वर्गों में तो आपसी आवाजाही मुमकिन है,

हो रही है, पर जाति का स्ट्रेट जैकेट इसकी इजाजत नहीं देता। बेहूदगी में जाति-भेद के मुकाबले वर्ग-भेद कहीं नहीं ठहरता। उसके ठप्पे की स्याही धुलना संभव नहीं। वर्ग-भेद देर-सवेर मिटेगा ही, पर जाति के नाम पर मेरी रूह खुश्क होती है। यह कैंसर जैसी है। मरते-मरते फिर से खड़ी हो जाती है।''[16] यहाँ इस बात का भी स्मरण है कि सुकन्या उस शंकर लाल को जातिगत आधारों पर खारिज नहीं करती जो कि सदैव उसके साथ चिपके हैं बल्कि उसे खारिज करती है वर्गभेद के आधार पर जो कि समय-समय पर बदलता रहता है।

''सुप्रसिद्ध कथाकार श्रीलाल शुक्ल की रचनाशीलता का नव्यतम और विशिष्ट पड़ाव है- 'राग-विराग'। प्रेमकथा के ताने-बाने से बुना गया यह लघु उपन्यास सामाजिक जीवन की अनेक जटिलताओं से टकराते हुए जाति, वर्ग, संस्कृति, बाजारवाद आदि के अनेक धूसर-चटख रंग उपस्थित करता है। संभवत: 'राग-विराग' हिन्दी का पहला ऐसा उपन्यास है, जो प्रेमकथा के जरिए हमारे ऊबड़-खाबड़ राष्ट्रीय यथार्थ का पाठ प्रस्तुत करता है। इसीलिए प्रेमकथा की रुढ़ियों को जबरदस्त ढंग से ध्वस्त करती हुई यह रचना प्रेमकथा की नई संभावनाओं और सामर्थ्य का दृष्टान्त बन जाती है। यहाँ श्रीलाल शुक्ल ने अपने बहुचर्चित शिल्पगत प्रविधियों को तजकर उपन्यास में नाट्य-लेखन शैली को प्रयोग करते हुए वर्णन और विस्तार को अवकाश जैसा दे दिया है। यथार्थ को विस्तार देने के बजाय 'विस्तृत यथार्थ' को कथा में स्थान देने का प्रयास उपन्यास को बड़े संदर्भों और गहरी अर्थवत्ता से जोड़ता है। भावुकता से दूर रहने वाला किंतु भावप्रवण-कलावादी नुस्खों से बहुत दूर किंतु कलात्मक यह उपन्यास प्रसन्नता और अवसाद, लगाव और अलगाव, गाँव-शहर, देस-परदेस, राग-विराग, बेसिक कल्चर और ओढ़ी हुई कल्चर, दारिद्री-अमीरी के फर्क और संघर्ष की कथा है।''[17]

इस प्रकार अपने इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने चिकित्सा जगत को गहरे से देखा और परखा है। साथ ही बाजारीकरण की वृत्ति के चलते शून्य होती संवेदनाओं को समझने का भी प्रयास किया है। शंकर और सुकन्या की जाति और आर्थिक स्तर के आधार पर रचनाकार ने समाज में व्याप्त जाति व वर्गभेद को भी अपनी कलम का विषय बनाया है। इस प्रकार यह उपन्यास अपने लघु कलेवर में आज के समाज के यथार्थ को विविध दृष्टियों से उजागर करता है।

संदर्भ सूची

1 अखिलेश : सं. *श्रीलाल शुक्ल की दुनिया*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, भूमिका से
2 https://swaarth.wordpress.com/2010/06/05/raagviraag/
3 श्रीलाल शुक्ल : *राग विराग*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, छात्र संस्करण, 2007, पृष्ठ 7-8
4 एलङ्बम विजयलक्ष्मी : *समकालीन हिंदी उपन्यास : समय से साक्षात्कार*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 107
5 नामवर सिंह व सुशील सिद्धार्थ : *श्रीलाल शुक्ल संचयिता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 13
6 श्रीलाल शुक्ल : *राग विराग*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, छात्र संस्करण, 2007, पृष्ठ 15-16
7 श्रीलाल शुक्ल : *कुछ साहित्य चर्चा भी*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 243
8 श्रीलाल शुक्ल : *राग विराग*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, छात्र संस्करण, 2007, पृष्ठ 22
9 वही, पृष्ठ 31
10 वही, पृष्ठ 46
11 वही, पृष्ठ 38-39
12 वही, पृष्ठ 55
13 वही, पृष्ठ 57
14 वही, पृष्ठ 97
15 http://www.abhivyakti-hindi.org/aaj_sirhane/2003/ragvirag.htm
16 श्रीलाल शुक्ल : *राग विराग*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, छात्र संस्करण, 2007, पृष्ठ 107
17 https://www.pustak.org/books/bookdetails/2483

162

□□□